पीएचडी: समस्या से निष्कर्ष की ओर

- प्रवीण वशिष्ठ

गाँव के प्राइमरी स्कूल से चलकर विश्वविद्यालय की सीढ़ी तक के सफर के एक पड़ाव का नाम पीएचडी है। विद्यार्थी अध्ययन के दो ही पड़ाव पर कुछ सिखाता है और कुछ भूलता है। पहले प्राइमरी स्तर पर और दूसरे पीएचडी के स्तर पर। लेकिन विद्यार्थी जितना बड़ा झूठा प्राइमरी लेवल पर होता है उससे कहीं ज्यादे वह होशियार झूठा पीएचडी के स्तर पर होता है। इन्हीं कूविख्यात कुकर्मों के कारण ही शोध में प्लेजरिज्म जैसी तकनीकी का अविष्कार हुआ। हर साल भारत के विश्वविद्यालयों में सामाजिक विज्ञान में हजारों शोध हो रहें हैं, लेकिन इसका कोई प्रभाव समाज पर नहीं दिखाई देता है।

सीधे शब्दों में कहा जाए तो सामाजिक विज्ञान की पृष्ठभूमि से किसी नए अविष्कार की अपेक्षा सरकार भी छोड़ चुकी है, जबकि समाज का तो कोई इससे जुड़ाव ही नहीं है। विश्वविद्यालयों में साल में हजारों सेमिनार हो रहे हैं, लाखों का बजट बना कर विभिन्न संस्थाओं से विश्वविद्यालय मोटा रकम उठा रहा है और सरकारें भी इसमें मदद कर रहीं है। उसके बाद भी सेमिनारों की सार्थकता इनोर्गल सेंशन से वैलिडेटरी सेशन के नाश्ते और भोजन से ज्यादे कुछ नहीं है। अरे भाई, आप कमरे में बैठ कर जो ज्ञान बांट रहे हैं, वह किताबी दुनियां तक सीमित है। बाकी विषय की गम्भीरता और सच्चाई जाननी हो तो किसी गाँव में जा कर किसी से पूछ कर देखिए कि उसके जीवन में इस बौद्धिक ढकोसलों का कोई प्रभाव पड़ा है? कितना गम्भीर अपराध है! जिन वर्गों का, समाज का, इतिहास का और उनके सामाजिक स्थिति पर काम किया जा रहा है उनमें से हजारों पीएचडी यूनिवर्सिटी के लाइब्रेरी में धूल चाट रहें। मजे की बात यह है कि समाज वैसे ही है। उसपर कोई प्रभाव नहीं दिखाई दे रहा है। शोधार्थी लाखों रुपये सरकार का उठा कर घर बनवा रहें हैं, हिल-स्टेशन घूम रहे हैं। कोई शोधार्थी काम कर रहा है, शहरी मजदूरों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति पर और ख़ुद शहर किसी रिहायसी रेस्टुरेंट में बर्गर खा रहा है। इसके पीछे व्यवस्था उतनी ही जिम्मेदार है जितना ये बौद्धिक गोलेबाज! व्यवस्था को भी केवल अपने कार्य को परफेक्ट रखना है बाकी असल परफेक्शन का तो कोई जवाबदेही है ही नहीं। सरकारें इसमें कम जिम्मेदार नहीं हैं। आज के समय में पार्टियों के अध्यक्ष सबसे बड़े राजनीतिज्ञ, विचारक, पार्टियों के बड़े चेहरे सबसे बड़े दार्शनिक और पार्टियों के प्रवक्ता देश के सबसे बड़े इतिहासकार बन बैठे हैं। और इस चलचित्र के डायरेक्टर की भूमिका में हमारी प्रिय निरपेक्ष डिजिटल मीडिया बन्धु के लोग हैं। शोध और आर्टिकल केवल नौकरी का माध्यम बन कर रह गया है। मजे की बात यह है कि समाज भी मीडिया व फिल्मों के माध्यम से इतिहास व

 ISSN:2583-8849

राजनीति को देख रहा है। अनुसंधान व समाज के जुड़ाव का तादाम्य बनाने में भारतीय शिक्षा व्यवस्था सही मायने में असफल है। आजकल के समाज में व्यवसायी शिक्षा के दौर में ज्ञान की शुरुआत किसी यूट्यूब चैनल से शुरू होकर, दूसरे चैनल की समीक्षा पर आकर सिमट जाती है। पारम्परिक शिक्षा यानी क्लासरुम की शिक्षा का महत्व ना तो पेशेवर शिक्षकों के लिए ही महत्व का विषय है और ना ही आजकल के एडवांस स्टूडेंट्स के लिए यह बोधगम्य है। फिर इस पूरे प्रक्रिया में विश्वविद्यालय की भूमिका पर सवाल उठता है। विश्वविद्यालय अब केवल डिग्री बांटने में व्यस्त है और इस कार्य का निर्वहन वह बखूबी कर रहा है। हमारे शिक्षा जगत की सारी समस्याएं चुनाव की मेनिफेस्टो की तरह सेमिनारों में बौद्धिक विमर्श की तरह उठता है और सेमिनार खत्म होने पर समाप्त हो जाता है। स्रोता भी सत्यनारायण भगवान का कथा सुन कर प्रसाद ग्रहण कर वापस चले जाते हैं। इस दौर में सोकाल इंटेलेक्चुअल शोधार्थी भी अब अजीब आ रहे हैं। मास्टर्स में जो विद्यार्थी प्रगतिशील विचार के शिक्षा पद्दति से पढ़ कर शोध में जाते हैं वो यह भूल जाते हैं कि चीन के बॉक्सर युद्ध को वो बक्सर का युद्ध लिख कर आये हैं। अब उन्हें इस बात का कोई फर्क नहीं कि अलाउद्दीन खिलजी कारा-मानिकपुर होकर के गया या रास्ते में ही उसका देहांत हो गया।

पारम्परिक शिक्षा का पैमाना एकदम संकीर्ण हो चुका है। व्यवस्था कैसे चल रही है यह किसी का विषय नहीं बल्कि व्यवस्था में फला व्यक्ति कितना भारमुक्त है, यह आज प्रथम प्राथमिकता है। जब से कोरोना महामारी आयी है तब से विश्वविद्यालय बस इसी दौड़ में लगा हुआ है कि उसका सेंशन पहले जैसा सामान्य हो जाए, उसको कहाँ फर्क पड़ता है कि अक्टूबर तक काउंसिल चलाने के बाद उसे नवंबर-दिसंबर के बाद जनवरी में ही परीक्षा लेना है। विद्यार्थी भी इस मैराथन दौड़ में बिना सुधार की आशा लिए इस क्लासरूम से उस क्लासरूम तक बस दौड़ रहे हैं। बाकी तीन साल बाद विश्वविद्यालय के महामहिम पोशाक पहनकर छात्र को स्नातक गोल्ड मेडल देने के लिए उत्सुक तो हैं ही।

इस विश्वविद्यालय शिक्षा व्यवस्था के सबसे अंतिम स्तम्भ पर पीएचडी का शोध खड़ा है। एक नए जिज्ञासा की शुरुआत यहीं से होती है और नए ज्ञान का सृजन भी इसी दौरान होता है। लेकिन इस सृजन की प्रक्रिया बड़ा ही जटिल है। एकेडमिक दुनियां में शोध हर विद्यार्थी का परम् लक्ष्य होता है। शोध वही जो समस्या से परिकल्पना, परिकल्पना से उद्देश्य और उद्देश्य से निष्कर्ष की तरफ सतत प्रवाहमान होता है। लेकिन शोध की समस्या एक जटिक समस्या है, जो शोध समस्या से कई मायने में गंभीर है। शोधार्थी के जीवन में शोध के अतितिक्त कई प्रकार की शोध समस्याएं होती हैं जिसके तीन प्रमुख चरण होते हैं। पहला, पीएचडी तक आते-आते विद्यार्थी का उम्र इतना हो जाता है कि परिवार वाले भी उसके साथ एक और परिवार जोड़ ही देते हैं।

अब इस स्थिति में वह पीएचडी भले न लिख पाये लेकिन महीने का हिसाब लिखना तो वह सिख ही जाता है। वह एक साथ दो शोध समस्याओं में उलझा हुआ है, पहला, पीएचडी की शोध समस्या और दूसरा शोध के दौरान की समस्या। फिर भी शोधार्थी घिसापिटा किसी तरह निष्कर्ष तक पहुँच ही जाता है। लेकिन दूसरी स्थिति इसके एकदम विपरीत है। अगर पीएचडी होने तक विवाह नहीं हुआ तो समझिए की शोधार्थी का शोध परिकल्पना ही गलत थी। उसे यह समझने में भूल हो गयी की पीएचडी का तो निष्कर्ष कहीं न कहीं से निकल ही जायेगा लेकिन पीएचडी के बाद नौकरी नहीं मिली तो दाम्पत्य का शुखमय प्रमाद की जो उसकी सम्भावित परिकल्पना थी वह नल हो जायेगी। अब बारी है, तीसरी स्थिति की जो और भी विकट है। पीएचडी के दौरान अगर शोधार्थी भूल-चुक से अपनी मेथडोलॉजी में परिवर्तन करते हुए किसी से प्यार कर बैठा तो स्पष्ट समझिए की उसका निष्कर्ष परिकल्पना के एकदम विपरीत होने वाला है। विभाग से होस्टल और होस्टल से लाइब्रेरी भले कितना भी कर ले फिर भी उसको कहीं भी रिसर्च गैप नहीं दिखायी देगा। सोते-उठते, खाते-पीते और पढ़ते हुए लाचार शोधार्थी की निष्कर्ष अंत में यही होगा कि उसे पहले वाला मेथडोलॉजी नहीं बदलनी चाहिए थी। पीएचडी तक आते-आते शोधार्थी अगर बला और कला या हुनर और होशियारी में फर्क नहीं कर पाया तो समझिए सारे फैक्ट कलेक्ट करने के बाद भी उसकी फाइंडिंग गलत है।

पीएचडी उम्र का एक ऐसा पड़ाव है जिसमें शोध के चरण के अतिरिक्त आप भी उम्र के कई चरण से गुजर चुके होते हैं। इस उम्र तक शोधार्थी के अंदर यादों की एक समझदार अभिलेखगार स्थापित हो चुका होता है, और उसके कमरे में खुद का एक सुंदर संग्रहालय भी होता है। संग्रहालय में कई यादगार स्मृतियों के साथ -साथ उपलब्धियों और सफलताओं के प्रतीक भी सुरक्षित होते हैं। पीएचडी तक किसी को प्यार नहीं हो सकता ऐसी मान्यता है और अगर हो रहा है तो समझिए की वह प्रेम संभावित है और उसकी अनुक्रिया का निष्कर्ष कभी भी बदल सकता है। एक मित्र हमारे पीएचडी के साथ-साथ पढ़ाते भी थे। उन्हें एम.ए की एक लड़की पसंद आई । अब उनकी शोधार्थी नैतिकता उन्हें कुछ कहने को नहीं कह रहा था। बहुत समस्या में एकदिन उनसे बात हुई। मैंने उनसे पूछा, मान्यवर आपका प्रेम सापेक्ष तो है ना? तो उनका जवाब था कि मित्र प्राथमिक स्रोतों की मानें तो लड़की को मैं पसन्द तो हूँ लेकिन द्वितीयक स्रोत ठीक इसके विपरीत तथ्य देते हैं। मैंने पूछा वो क्या तथ्य देते हैं? तो उन्होंने बताया कि लड़की एक बूक में पढ़ी है कि शोधार्थी रोमांटिक नहीं होते इसलिए वो थोड़ा डर रही है। बात बड़ा ही अजीब समझ आता है। प्रोफेसर बनने पर वही शोधार्थी रोमांटिक हो सकता है, जबकि पीएचडी के दौरान वह सो काल बोरिंग टाइप का व्यक्ति है। सच में पीएचडी एक अद्‌भुत दौर होता है। इस दौर में शोधार्थी समस्या से निष्कर्ष की ओर अग्रसर न होकर बल्कि जीवन में कई निष्कर्षों से समस्याओं की ओर उन्मुक्त होता है।

ISSN:2583-8849

इस शोध रूपी संघर्ष की शुरुआत जिस भव्य परास्थापत्य इमारत से होती है वह विश्वविद्यालय, कालेज या तकनीकी संस्थान कहलाते हैं। सबका अपना अलग विभाग, इकाई या अलग संस्था होती है। मास्टर्स करने के बाद छात्र जब क्लास रूम से चेम्बर रूम तक पहुंचता है तो विभागीय दुनिया का स्वर्णिम स्वप्न अचानक से टूट जाता है। तब उसे समझ आता है कि पीएचडी में एडमिशन लेने के लिए उसे उतनी ही मसक्कत करनी पड़ती है जितना एम.एल.ए का टिकल लेने के लिए करनी पड़ती है। प्रक्रिया वही है। अगर दावँ-पेच में समीकरण ठीक से नहीं बैठाए तो प्रक्रिया से बाहर हो सकते हैं। राजनीति में जैसे पार्टीयों की अपनी विचारधारा होती है, वैसे ही विभागों में विचारधाराओं की लॉबी है। राष्ट्रवादी, समाजवादी, मार्क्सवादी और दलित चिंतन के पेशकार आपको यहाँ मिल जाएंगे। अच्छा! मजे की बात यह है कि यहाँ जातियों की लॉबीयां भी माईने रखती है। सवर्ण ग्रुप , ओबीसी ग्रुप और एसटीएससी ग्रुप और वो सेकुलर ग्रुप भी जिनकी बौद्धिक मर्यादा केवल दूसरों पर लागू होती है। एकेडमिक दुनियाँ में एक और अविष्कार हुआ है यह अविष्कार समाज के उपयोगी भले न हो लेकिन शैक्षणिक दुनियां में आजकल बड़ा महारत हासिल कर चुका है। यह वर्ग भी हमेशा से विश्वविद्यालय में रहा है। कम शब्दों में कहें तो इस विचारधारा की लाबी को रसिकवाद ग्रुप कहते हैं। यह सब सिंद्धान्तों, धर्म, जाति और ज्ञान से परे है। कण्व ऋषि ने सब रसों में सबसे आध्यात्मिक रस सोम रस को बताया है। उसी प्रकार इस पंथ के लोग 'भोगरस' में विश्वास रखते हैं। यहाँ सम्बन्ध का बस एक ही आधार है आदान- प्रदान। इस श्रेणी में रूपजीवक और रूपाजीवा टाइप के बौद्धिक जन सम्मलित होते हैं। ये बड़े रेशनल लोग होते हैं जिनका किसी जाति, मत, विचार से कोई भेदभाव नहीं होता है। इस विचारधारा में सम्मलित होने के लिए परम स्वार्थी, मक्कार और चाटूकार होने के साथ-साथ तथाकथिक चरित्रवान होना ही काफी है। अब इस विकट स्थिति में कल तक जो छात्र मास्टर्स में सामाजिक समरसता नैतिकता का पाठ एक साथ बैठ कर पढ़ रहा था, वही विद्यार्थी पीएचडी के लिए जाति समीकरण और विचारधारा एंगल ढूढते नजर आएगा।

विभागीय प्रक्रिया भी एक उपादान है। विभाग में पीएचडी करना व कराना दोनों कठिन काम है। पूरे प्रक्रिया की चाभी हमेशा बदलती रहती है। कभी फला हेड! तो कभी फला डीन! कभी इस चेम्बर तो कभी उस चेम्बर में! इन सबके निकास का केवल एक ही द्वार है, उस परमार्थ द्वार को कार्यालय कहते हैं। आपका भविष्य और भाग्य यहीं से होकर गुजरता है। इस द्वार के आगमन व निकास के मार्ग में जैसे मंदिर के प्रवेश द्वार के बाहर भगवान गणेश बैठे होते हैं वैसे कार्यालय के बाबू बैठे रहते हैं। बुजुर्गों में एक कहावत प्रसिद्ध थी कि "सौ हरामी मरते हैं तो एक बाबू पैदा होता है", यह कहावत भले सब बाबुओं पर सटीक न बैठे पर अधिक्तर पर तो एकदम सटीक बैठता है। कार्यालय के पास इतनी छमता होती है कि वो विद्यार्थी -शोधार्थी तो दूर अगर चाह जाए तो प्रोफेसर को भी

नालायक घोषित कर सकता है। अगर कोई आजमाना चाहे तो किसी बाबू से उलझ कर देखें। उनके सारे नियम उल्टे होते हैं। कब कहाँ कौन सा नियम लगाना है वह आपके व्यवहार व चाटूकारिता पर निर्भर करता है। इसी लिए पीएचडी जमा करने से पहले मंदिर के गणेश भगवान की तरह सबसे पहली मिठाई का भोग बाबू व क्लर्क लोगों को ही लगाया जाता है। ध्यान रहे जहाँ व्यवस्था ज्यादे खूबसूरत हो वहाँ मिठाई के साथ मोटी रकम भी वैकल्पिक रूप से जुड़ जाता है।

आज के दौर में तमाम परम्पराओं के पैमाने बदल रहे हैं, उसी बदलाव में एक बदलाव भर है पीएचडी के दौरान गुरु- शिष्य परम्परा में बदलाव! पीएचडी जिसके साथ किया जाता है उसे शोध पर्यवेक्षक यानी सुपरवाइजर या भारतीय परंपरा में कहें तो गुरु कहा जाता है। जो शोधार्थी इस बात को नहीं समझता वह भूल कर रहा है कि वो आपके सुपरवाइजर इसलिए नहीं हैं कि आपने उनका चयन किया बल्कि वो आपके सुपरवाइजर इसलिए हैं ताकि उन्होंने आपको चुना! एक समय था जब शोधार्थी यह समझता था कि उनका गुरु ही उनका सबकुछ है। इस परिपाटी के लोग अब कम मिलेंगे। अब सुपरवाइजर व शोधार्थी के बीच का सम्बंध आजीवन होने की बजाए अनुबंधित हो चुका है। गुरु अगर बालू से शिप निकालने की जद्दोजहद कर रहा है तो आपको भी रेत में हाँथ आजमाना होगा। यह बात वहाँ माईने नहीं रखती की आप समुंद्र में गोता लगाना चाहते हैं। समस्या यहाँ तक नहीं है, समस्या तो इसमें होता है कि अगला शिप ढूढ़ने लायक है की नहीं यह समझना चाहिए। सर्वेक्षक को सर्वेक्षक होना चाहिए शोधार्थी के आचरण, परिस्थिति, अध्ययन क्षमता और व्यवहार के प्रति। सर्वेक्षक सच में समझ सकता है कि सही में शोधार्थी शोध समस्या में उलझा है कि शोध के साथ के समस्या में। यह बात आपके अतिरिक्त आपका सर्वेक्षक ही समझ सकता है। शोधार्थी को भी समर्पण भाव से गुरु का सम्मान करना चाहिए। इसके विपरीत अगर शोधार्थी या सुपरवाइजर के बीच यह तादाम्य नहीं बन पा रहा है तो दोनों को एक दूसरे का परित्याग कर देना चाहिए। सुपरवाइजर का सम्बंध कभी दण्डवत होकर निभाया जाता था, पर आज स्वार्थ, विचारधारा, जातिवाद और अश्लीलता से भर गया है। इस जटिल प्रक्रिया में भले ही हम प्लेटो और अरस्तू के विचारों को आपस में जोड़ देते हैं, लेकिन हमसे यह भूल हो ही जाती है कि हमारे सुपरवाइजर और हेड के विचार आपस में नहीं मिलते हैं। अब भले हम सैकड़ो तथ्य प्रस्तुत कर दें कि प्लेटो और अरस्तू एक साथ चाय पीते थे लेकिन इस सत्य को कैसे नकार सकते है कि हमारे हेड व सुपरवाइजर आपस में एक दूसरे को देखना भी पसंद नहीं करते हैं। अब इस समस्या में उलझा शोधार्थी चुपचाप विभागीय घनचक्कर में पिसता है। और अंत में ऐसी समस्याओं से बस एक ही निष्कर्ष निकलता है कि भले हम हेड के सुझाव को मान लें, लेकिन सुपरवाइजर की राय पर ही काम करेगें। देशी में एक कहावत है कि "जौने रोगिया भावे उहे बैद्य बतावै" यानी जिसको जो अच्छा लगे उसे वही सुनाएं, ऐसे सृजनात्मक

शौक आपको शोपान तक तो पहुँचा सकता है लेकिन उसकी सार्थकता कभी भी धूमिल हो सकती है। शोध दौरान आपका सबसे साँझा अनुभव और ज्ञान आपके शोधपर्वेक्षक यानी गुरु जी के साथ ही होता है। अनुभव बुरा या अच्छा हो सकता है। लेकिन अनुभव के प्रति अनुगृहीत रहना ही शोधार्थी का कर्तव्य है। पीएचडी में सुपरवाइजर 'सुपरवाइजर' ही होता है। वह शोध के दौरान तो सुपरवाइजर होता ही है लेकिन शोध के बाद अगर उसी विभाग में आपकी नियुक्ति हो जाती है तो समझिए की वो तब भी सुपरवाइजर ही है। इससे आपको भले लग सकता है कि आपका स्वतंत्र अस्तित्व खतरे में है लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए आप सबसे सुरक्षित वहीं होते हैं। हमारे एक मित्र हैं हाल ही में एक राज्य विश्वविद्यालय में सहायक प्राध्यापक की नौकरी पाए। बहुत खुशी में अपने सुपरवाइजर गुरुजी को कुछ नहीं बताए। जॉब के तीसरे दिन ख़ुशी में सारे विभाग में मिठाई बाँटते हुए दुर्भाग्य से मिठाई लेकर सुपरवाइजर गुरुजी के चेम्बर में पहुँच गए। गुरुजी बैठे थे, पैर छू कर बोले 'क्षमा गुरुजी! उत्साह में आपको बताना भूल गए आपको तो मालूम ही होगा कि मैं इसी विभाग में सहायक प्राध्यापक के लिए चयनित हुआ हूँ। फिर बोले नरसों शाम को ही परिणाम घोषित हुआ बड़ी खुशी हुई आपके आशीर्वाद से आज यह मुकाम हम पाएं हैं, आप मिठाई खाइये आपके लिए स्पेशल शुगर फ्री मिठाई लाये हैं।' गुरुजी उनकी ओर देखे और बोले कि 'फिलहाल मेरा शुगर एकदम ठीक है, लेकिन तीन दिनों से मेरा कोलेस्ट्रॉल काफी बढ़ा हुआ है।' मित्र साहब समझ नहीं पाए, बोले तो सर चलिए मैं आपको डॉक्टर को दिखा देता हूँ! गुरुजी बोले 'नहीं ठीक है, फिलहाल तुम एक काम करो मेरा सिगरेट खत्म हो गया है, जाकर लेकर आओ।' बेचारे मित्र साहब गए और गुरुजी के आगे सिगरेट लाकर रख दिए। गुरुजी कुछ देर शान्त रहे फिर बोले कि 'सुना है, तुम्हें चेम्बर भी एलाट हुआ है, और वो मेरे चेम्बर से बड़ा है' मित्र साहब बोले 'हाँ सर अभी कल ही उसको साफ करवाये हैं।' गुरुजी ने तुरंत कहा कि "देखो अगर सामान्यीकरण किया जाए तो तुम्हारा ज्ञान और किताबों का भंडार दोनों ही मुझसे कम है और तुम्हारा चेम्बर भी हमारे चेम्बर के ठीक ऊपर है, ऐसा बिल्कुल भी ठीक नहीं है, तो तुम ऐसा करो कि अपने गुरु भाईयों को बुलाओ और मेरा सामान उसमें शिफ्ट करवा दो! मैं इस संदर्भ में हेड से बात करके आता हूँ! आगे बढ़ते ही गुरुजी रूककर बोले ''अरे जरा मिठाई का डब्बा दो मैं अपने कलिक लोंगों में बांट दूँ", मित्र साहब कुछ नहीं बोल सके, यूनिवर्सिटी के पहले दिन साहब को चेम्बर शिफ्ट करना पड़ा। शाम को जब मित्र साहब घर जा रहे थे तो गुरुजी गाड़ी रोक कर बोले "कहाँ जा रहे हैं प्रोफेसर साहब?" मित्र साहब बोले बस चौराहे तक चलेंगे सर! गुरुजी बोले बैठो मैं तुम्हें छोड़ देता हूँ। बेचारे ना नहीं कह सके और धीरे से पीछे बैठ गए। अचानक गुरुजी डाँटते हुए बोले जॉब क्या पा गए सारी तमीज़ ही भूल गए! मैं तुम्हारा ड्राइवर नहीं, आओ आगे बैठो! मेरे मित्र साहब चुपचाप आगे आकर बैठ गए। थोड़ी देर रुककर सहमे हुए धीरे से गुरुजी से बोले कि सर आगे से लेफ्ट ले

लीजिए उधर से शॉर्टकट पड़ेगा। लेकिन गुरुजी कुछ नहीं बोले सीधे रास्ते पर चलते रहे। थोड़ी दूर जाने पर जाम मिला। भाई साहब का गुस्सा फूटा और गर्दन चौड़ा करते हुए बोले, 'सर कहे थे ना कि आगे जाम मिलेगा शॉर्टकट ले लीजिए।' गुरुजी हार्न बजाते हुए उनकी ओर देखे और बोले "शांति से बैठो, आखिर सुपरवाइजर की ईगो भी कोई चीज होती है।" मित्र साहब के लिए एक अच्छी शिक्षा थी कि आप भले जीवन में कितना भी सफल हो जाएं गुरु हमेशा आपसे श्रेष्ठ ही होगा।

बहरहाल, इस प्रक्रिया का एक औपचारिक अंत यानी पीएचडी की समीक्षा व समस्या का अंत वहाँ होता है जब पीएचडी एकेडमिक सेक्सशन में जमा हो जाता है। मुझे याद है मैं जिस विश्वविद्यालय में पढ़ रहा था अचानक वहाँ एक सूचना जारी हुई की छः साल से ऊपर के शोधार्थियों को एक्सटेंशन नहीं दिया जाएगा वो यथासंभव पीएचडी जल्द से जल्द जमा करें। सौभाग्य से मैं सूचना के अंतिम तिथि पर सेंट्रल आफिस गया था। वहाँ प्रत्येक बीस मिनट पर एक पीएचडी वैसे ही आ रही थी जैसे मणिकर्णिका घाट पर हर बीस मिनट पर एक मुर्दा! और शोधार्थी के साथ कुछ दोस्त यार सहज विजय की भावना लिए आगे बढ़ रहे थे। जमा करने वाले शोधार्थी के चेहरे पर अकादमिक मोक्ष्य का भाव विश्वविद्यालय छोड़ने के करुणा के साथ साफ दिखाई दे रहा था, मानो विश्वविद्यालय छूटा या नहीं पर पीएचडी से जान तो छूट ही गया।

शिक्षा का मूल उद्देश्य ज्ञान वृद्धि न होकर, नौकरी पाना बस रह गया है। विश्वविद्यालय के चक्कर से निकलकर शोधार्थी नौकरी के दौर में फिर आता है। यह वह चक्कर है जिसका अंत ही नहीं है। सरकार के पास सब कुछ है सिवाय नौकरी के! यहाँ आकर शोधार्थी सच में अपने डिग्री की वैल्यू समझता है। यहाँ ज्ञान, पकड़, अकड़, अदा और औकात देख कर हूनर की परीक्षा होती है,उसमें ज्ञान बस एक पक्ष है, उसके बिना जितने भी पैमाने है उसमें से किसी में प्रवीण होना ही सफलता का मूल मंत्र है। शिक्षा के सबसे ऊपरी पायदान की व्यवस्था कुछ ऐसी है कि एक सीट के लिए श्रमदार, मालदार, चालदार और रूपदार एक साथ खड़े हैं, अब मौसम का मिजाज कैसा है, यह उसी पर निर्भर करता है।

इन संघर्षों को पार करके शोधार्थी परिपक्व होने के साथ ही एक ऐसा ज्ञान पाता है जो किसी नदी के तट पर प्राप्त नहीं किया जा सकता है। समाज में अगर शान्ति भी हो तो इस बोधि दुनियां के मन में हमेशा बास्टिल का पतन ही चलता है। उच्चस्तरीय बौद्धिक समाज का कायदे से न तो परिवार से और न ही समाज से इनका कोई जुड़ाव होता है। पूरे देश का राष्ट्र हित एकबार एक हो सकता है लेकिन इस वर्ग का हित प्रत्येक हेड-डीन और वीसी के साथ बदलता रहता है।। (शोध समस्या बनाम शोधार्थी समस्या अंश से, क्रमशः)